RESEARCH EXPRESSION ISSN 2456-3455 Vol. 1, Issue 1, September 2016

उपन्यास का युग

शंभुनाथ साव
हिन्दी विभाग, कोलकत्ता विश्वविद्यालय, कोलकत्ता (पश्चिम बंगाल)

सारांश:

आज दुनिया में सबसे चर्चित विधा उपन्यास है। वैश्वीकरण के इस दौर में हिंदी उपन्यास में रचनात्मकता के साथ-साथ जीवन-बोध का विस्तार देखा जा सकता है। आज का लेखक यथार्थवाद की यांत्रिकता से बाहर निकलकर आधुनिकता के सर्वसत्तावादी रूपों से टकराते हुए राष्ट्र के मन में पलती आशाओं, शंकाओं और विद्रपताओं को खुले मन से पढ़ता हैं। आज उपन्यास का युग है। चारों और बाजारवाद का साम्राज्य है। आज बाजार ने मनुष्य की रूचियाँ बदल दी हैं परंतु यह भी सत्य है कि साहित्य कभी बाजार की रूचियों और शोर में बह नहीं सकता, वरन् वह रूचियों का रचनात्मक पुनर्निर्माण करना है, जहाँ आकर पाठक थोड़ी देर खुलकर सांस लेता है। आज बर्बर सामंती पुनरूत्थान के खिलाफ आवाजें हैं तो साथ ही राष्ट्र पर मंडराती नव-औपनिवेशिक छायाओं के चित्र भी हैं। फलत: उपन्यास एक दार्शनिक विद्रोह है, प्रतिवाद है और उनकी आवाज है जो हाशिये पर हैं, भेदभाव के शिकार हैं या बहिष्कृत हैं।

बीज शब्द: कला विलास, अंत: मूर्तिभंजन, आत्म औचित्यीकरण, मानवीय, कथी, खिच्चड़, घेटोकरण।

राजा दुष्यंत के दरबार में आकर शकुंतला ने जब अपना परिचय दिया, दुष्यंत ने विस्मय से पूछा, 'किमिदमुपन्यास्तम्', यानी यह कैसा उपन्यास या कल्पित कहानी सुना रही हो! कालिदास के साहित्य में उपन्यास के इस उल्लेख से बोध हो सकता है कि हक की आवाज से उपन्यास, कल्पित कहानी या कथा का पुराना संबंध है। अंग्रेजी के 'नावेल' से, जिसका अर्थ नया होता है, उपन्यास इस अर्थ में भिन्न है कि यह हमेशा हक की आवाज है। प्राचीन महाकाव्यों और लोककथाओं दोनों में ऐसी ढेरों जगहें हैं, जहा बहिष्कृत और वंचित बोलते हैं, प्रश्न उठाते हैं और जीवन का अर्थ खोलते हैं। नए युग के हिंदी उपन्यासों में यह सिलसिला बना हुआ है। इनमें वे अग्रभूमि में हैं, जो इतिहास, राष्ट्रवाद और आधुनिकता द्वारा निर्मम ढंग से पृष्ठभूमि में फेंके जाते रहे हैं और बहिष्कार झेलते रहे हैं। वे पहले वनों में बहिष्कृत होते थे, अब अपने ही देश, शहर या घर में।

उपन्यास को 'आधुनिक युग में मध्यवर्ग का महाकाव्य' कह कर उसे एक सार्वभौम अवधारणा का जामा पहनाया गया और कभी उपनिवेशित देशों के उपन्यास को 'राष्ट्रीय रूपक' कहा गया। मानो पश्चिम के उपन्यास अंतर्राष्ट्रीय रूपक हों या उपन्यास से पहले भारत न हो। दरअसल उपन्यास उन प्राचीन लोककथाओं का नया अवतार है, जो सैकड़ों साल से कल्पित कहानी या झूठ के शिल्प में जीवन की सच्चाइयों, स्मृतियों और आशाओं को बचाकर रखती आई हैं। प्रेस के आविष्कार ने कथाओं की महान मौखिक परंपरा को 'लिखित

Corresponding Author: Mobile No. 09007757887

मौखिकता' का रूप दिया। इस तरह उपन्यास का संबंध राष्ट्र के जन्म से नहीं है, कुछ कहने-सुनने की प्राचीन परंपरा से है। वह एक मानवीय रूपक है, जो हमेशा सत्ता और प्रचलित ज्ञान का विखंडन करता आया है, क्योंकि इसके बिना कुछ नया, चुनौतीपूर्ण और मूल्यवान देना संभव नहीं है। उपन्यास हमेशा एक दार्शनिक विद्रोह है, प्रतिवाद है और उनकी आवाज है जो हाशिये पर हैं, भेदभाव के शिकार हैं या बहिष्कृत हैं। यहाँ तक कि किसी उपन्यासकार का नया उपन्यास लिखना पुराने अनुभव से जेल तोड़ कर बाहर निकलने का मामला है। यह अलग बात है कि कई बार सिर्फ गिनती बढ़ाने के लिए उपन्यास लिखे जाते हैं, लेखक का मुख्य पात्र उसके नए उपन्यास का पीछा करता है।

कभी उपन्यास की मृत्यु की घोषणा की गई थी, पर आज दुनिया में यह सबसे ज्यादा चर्चित विधा है। मनोरंजन उद्योगों द्वारा साहित्य के सामाजिक विस्थापन के दौर में यदि कोई साहित्य आज भी ज्यादा पढ़ा जा रहा है तो वह उपन्यास है। यह उपन्यास का युग है। इसकी एक वजह यह है कि उपन्यास निजीपन या गिने-चुने संदर्भों तक सीमित नहीं है। आज बड़ी मेहनत से और कई बार काफी शोध करके उपन्यास लिखे जा रहे हैं। वे कलात्मक होते हैं, पर उनका कलात्मक होना कलाविलास नहीं है। हर युग में सवाल रहा है कि उपन्यास कैसे लिखा जाए, क्योंकि उपन्यास इसलिए पढ़ा जाता है कि कुछ नया मिले। उपन्यास पढ़ कर पाठक अपने को पुनर्उपलब्ध करता है, वह आनंद पाता है। वह घटित और कल्पित के मिश्रण से बना पाठ पढ़ कर सोचता है कि सदा इन्हीं चीजों के बीच रहते हुए भी इनसे कितना अपरिचित था। इसलिए उपन्यास लिखना प्रत्यक्ष वास्तव का सृजनात्मक अपरिचितिकरण है, जो हमेशा चुनौतीपूर्ण होता है। उसी तरह उपन्यास पढ़ना अंतःमूर्तिभंजन है, जो आत्मऔचित्यीकरण से एक भिन्न मामला है। लोग कई बार समय काटने के लिए उपन्यास पढ़ते हैं, जबकि उपन्यास पढ़ना समय को जानना है, जीना है और इसे बदलने के लिए कुछ नया सोचना है।

उन्नीसवीं सदी से नई यात्रा शुरू करके हिंदी उपन्यास तमाम परिवर्तनों के बीच से आज जहाँ पहुँचा है, वह एक उद्वेलित करने वाली जगह है। हिंदी में उपन्यास देर से लिखे जाने शुरू हुए, पर प्रेमचंद ने इसके पहले महत्वपूर्ण दौर में ही इसे काफी ऊँचाई पर पहुँचा दिया था। उन्होंने ऐसी समस्याएँ उठाई थीं, जो आज भी ताजा हैं। उनके साथ और आसपास ही प्रसाद और जैनेंद्र ने उपन्यास लिखे। इसके बाद अज्ञेय, यशपाल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, अमृतलाल नागर, रेणु, भीष्म साहनी, निर्मल वर्मा, श्रीलाल शुक्ल जैसे महत्वपूर्ण लेखक हुए, जिनके उपन्यास आज भी विस्मित करते हैं। वे ऐसे समाज में लिख रहे थे जो उच्च विरासत के बावजूद एक अजीब विरोधाभास उपस्थित करते हुए विसंगतियों और क्रूरताओं से भरा रहा है। उन्हें अपने बनते हुए राष्ट्र की विडंबनाओं के अलावा पश्चिमी प्रभावों से भी जूझना था। उल्लेखनीय है कि भाषायी उपन्यासों में विदेशी प्रभावों को लेकर कभी गहरी उद्विग्नता रही है और कभी उन प्रभावों को रचनात्मक संघर्ष का उपकरण बना लेने की सचेत तत्परता।

उपन्यास को निश्चत ही बाजार का बल मिला है, पुरस्कारों का बल मिला है और इस विधा को शिखर पर पहुँचाने में विवादों की एक बड़ी भूमिका है। देखना होगा कि इधर उपन्यास विधा में जो फर्क आया है, उपन्यास को जनप्रिय बनाने में उसकी क्या भूमिका है। पहले था, दुनिया को जैसा देखते हो और तुम्हारा अनुभव है वैसा चित्रित करो। यह जीवनगाथा माना गया, चाहे इसमें मध्यवर्ग का जीवन हो या कृषक का। फिर उपन्यास में सिद्धांत घुसे, मुख्यतः मनोवैज्ञानिक, मार्क्सीय और अस्तित्ववादी सिद्धांत। व्यक्ति चरित्र बने और वर्ग चरित्र भी। पिछले लगभग ढाई दशकों से इन चीजों को पीछे छोड़ते हुए एक नया परिदृश्य है। अब स्थान और काल ही महत्वपूर्ण नहीं हैं, सामुदायिक परिवेश एक तीसरा आयाम है। 1990 के आसपास से उपन्यास में जो बदलाव आया है, वह इस तीसरे आयाम की वजह से संभव हुआ है। इसने सार्वभौमता

और राष्ट्रवाद के मिथ को तोड़ा, क्योंकि वे ढकोसलों से भर गए थे। इसके अलावा नस्ल, जाति, जेंडर और मजहब की संकीर्णताओं पर आधारित भेदभाव और तमाम किस्म के प्रभुत्वों को चुनौती दी। अब स्थानीय और सामुदायिक में मानवीय की खोज शुरू हुई, क्योंकि वैश्वीकरण के जमाने में 'मानवीय' अब अपरिचित स्थानों, वंचितों, मूक करके रखे गए समुदायों या इतिहास की खाली जगहों में ही कहीं बचा है।

हम हिंदी उपन्यासों को कैसे पढ़ें, कैसे ये भारत के आम लोगों की समझ, संवेदना और उसकी समस्याओं को सामने लाते हैं, ये विकट हिंदी जीवन को कितना प्रतिबिंबित करते हैं और पिछले लगभग ढाई दशकों से उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांत किस हद तक इनके लिए प्रेरणाओं और बाधाओं का काम करते रहे हैं, ऐसे कई प्रश्नों पर विचार करने की जरूरत है। खासकर इधर के उपन्यास उस मौखिक परंपरा का स्मरण करा रहे हैं, जिसमें कथा कही-सुनी जाती थी। आज का पाठक कुछ पढ़ना नहीं चाहता, यदि उसे कुछ सुनने और शब्दचित्रों के जरिये कुछ देखने को न मिले। इसलिए आज उपन्यास विभिन्न शैलियों में बहुचित्रमय लिखित मौखिकता है, जिसकी ताकत को समझना चाहिए।

कविता रचयिता का मामला है, पर उपन्यासकार 'रचयिता' से अधिक 'लेखक' होता है। उसमें रचयिता का अहं नहीं होता। उसके लेखन में वे बोलते हैं, जो किसी न किसी रूप में हाशिये पर हैं। यह कम विलक्षण नहीं है कि आज के उपन्यासों की प्रेरणा पश्चिम नहीं है, वहाँ अब जैसे कथा ही नहीं है।

गौर करने की चीज है कि हिंदी उपन्यास में स्थान, राष्ट्र और विश्वदृष्टि का त्रिभुज सदा रहा है। इसका कभी कोई कोण छोटा और कोई बड़ा हो सकता है। दरअसल स्थान, राष्ट्र और ग्लोबल में किसी एक से ही पूर्णतः बंध जाने पर या तात्कालिकता को एक मूल्य बना देने पर उपन्यास कभी अच्छे और जीवन से भरपूर नहीं हो सकते। हिंदी उपन्यास कभी महज राष्ट्रीय रूपक नहीं था और वह कभी महज स्थानीय था। उसमें खासकर, इधर जो फर्क आया है, उसे यथार्थवाद, आधुनिकतावाद, नई आलोचना या उत्तर-औपनिवेशिक सिद्धांतों के चौखटे में रख कर नहीं समझा जा सकता। फिर भी आज के उपन्यास को एक समावेशी प्रगतिशील परंपरा के भीतर रखकर देखना होगा, विच्छिन्नता में नहीं। भारत जैसे कथाओं से भरे देश में जहाँ पहाड़, नदियां, पेड़-पौधे, पशु-पक्षी तक कथाओं में डूबे हुए है, हिंदी उपन्यासों का विविधतापूर्ण, सांकेतिक और सोद्देश्य होना स्वाभाविक है। यह देखना रोचक हो सकता है कि वे इतिहास की एक रेखीयता को चुनौती देते हुए अतीत और समकालीनता का कई 'स्थानों' से किस तरह सामना करते हैं। उनमें भारतीय अनुभव के बहुरंगेपन के अलावा तीखापन सहज ही लक्षित किया जा सकता है।

उपन्यास विस्थापित इतिहास, विस्थापित राष्ट्रीय टुकड़ों की सबसे सबल मानवीय आवाज होने की वजह से कुछ सार्थक कहने में आज सभी विधाओं से आगे हैं। फिर भी उपन्यास को महज समस्यामूलक कृति, विमर्श या आवाज कहना काफी नहीं है। वह एक सतत शिल्पगत अन्वेषण भी है। उपन्यास लिखने का अर्थ प्रचारित शैली में बस एक और कथा लिखना नहीं हो सकता और न इसे सैद्धांतिक लक्षण ग्रंथ बना देना काफी होगा। यह क्रीड़ामय होने के साथ चुनौतीपूर्ण विधा है।

यह भी एक प्रश्न है कि उपन्यास और इतिहास का साहित्यिक खिच्चड़ पहले किस उद्देश्य से बन रहा था और आज किस उद्देश्य से बन रहा है। उपन्यासकार अपने ढंग से इतिहास कहता है, पर उसका काम इतिहास लिखना नहीं है। देखा जा सकता है कि इधर इतिहास के राजनीतिक और व्यापारिक दुरुपयोग बढ़े हैं। अक्सर वर्तमान के जो नियामक हैं, वे अपनी ताकत से सिर्फ भविष्य ही नहीं निर्धारित करते अतीत पर भी नियंत्रण करना चाहते हैं। उपन्यास में भी बड़े पैमाने पर अतीत के 'चिह्न' आ रहे हैं। अंतः देखना जरूरी है कि यह अपने साहित्यिक ढांचे में वस्तुतः विस्थापित इतिहास है या विकृत इतिहास। उपन्यास सांस्कृतिक पाठ होते हैं, पर वे सामाजिक-ऐतिसाहिक संदर्भों में रचे जाकर एक बिंदु पर जीवन के व्यापक दुख-सुख,

हँसी-खुशी, उलझन-संकल्प और भटकावों-अन्वेषणों की मानवीय कथा होते हैं, क्योंकि तभी वे पाठक के लिए सहज आत्मीय हो पाते हैं। वे एक विजन के साथ निश्छल भाषा में व्यक्त किए गए अनुभव हैं। कहा जा सकता है कि औपन्यासिक भाषा की निश्छलता ही सामाजिक व्यवस्था, राजनीति और बाजार की क्रूरताओं को बंध पाती है और एक साहित्यिक प्रति-ध्रुव रच पाती है। देखा जा सकता है कि नई औपन्यासिक शैलियों ने इस निश्छलता को पुनः उजागर किया है और एक न एक तरह से उपन्यास को पठनीय बनाने पर काफी जोर दिया है।

उपन्यास की आलोचना करना पहले उसका पाठक होना है। पाठक निष्क्रिय इतिहासविहीन सत्ता नहीं है। हर पाठक के पास प्रश्न होते हैं। हो सकता है कि आलोचक के पास कुछ ज्यादा प्रश्न हों। कुछ साझा प्रश्न हों और जीवन को देखने-समझने की कुछ उसकी खुद अपनी साहित्यिक उत्कटता हो। आलोचना करना कट्टरताओं के बीच जीवन के लिए जगह बनाना है, कभी कृति के साथ घुलमिलकर और कभी अकेले। हिंदी उपन्यास का यह मूल्यांकन कोई सर्वेक्षण नहीं है। हिंदी में अनगिनत अच्छे उपन्यास हैं। इस पुस्तक में 'राष्ट्र बनाम हाशिया' की जगह 'राष्ट्र और हाशिया' के प्रश्नों पर कुछ चुने उपन्यासों से आलोचनात्मक संवाद है। यह राजनीतिक बाजार की सफलता है कि आज अनगिनत 'हम' और 'वे' हैं, इनके बीच बर्लिन दीवारें हैं। प्रेमचंद बनाम प्रसाद, जेनेंद्र बनाम यशपाल, अज्ञेय बनाम नागार्जुन, रेणु बनाम निर्मल वर्मा जैसे कई 'बनाम' हैं। वर्तमान दौर पर सैद्धांतिक घेटोकरण अलग से है। साहित्य राजनीति की कार्बन कॉपी नहीं है और न बाजार का माल है। 'बनाम' बहुत हो चुका, अब थोड़ा 'और' के लिए जगह बननी चाहिए।

आज विमर्श ही नहीं विचार-विमर्श भी जरूरी है। यह विमर्श को इकतरफेपन से मुक्त करना है। विमर्श का विमर्शरंजन बनना आत्मघात है। निःसंदेह समाज में एक व्यापक आलोड़न उपस्थित है, हाशिये धधक रहे हैं। भूलना नहीं चाहिए कि बहिष्कृत करने वाला खुद कहीं बहिष्कृत हो रहा होता है। बदले परिदृश्य की खूबी है कि उन्हें अब सुनना पड़ रहा है जो सैकड़ों साल से सिर्फ बोल रहे थे, हालांकि ताकत की संस्कृति ही भारी है। अब बारीक किस्म के अत्याचार है, जो नहीं दिखते। इतनी ऊंची सभ्यता में भी स्त्री, दलित, किसान, अल्पसंख्यक, आदिवासी और शहरी साधारण नागरिक दैनिक अपमान, वंचना और हिंसा के बीच निस्सहाय होकर जी रहे हैं। इसी तरह दुनिया भर के छली प्रलोभन छाए हैं, छद्म मानवीय चेहरे हैं। इसलिए बौद्धिक स्थिति यह है कि धर्म, आधुनिकता, बुद्धिवाद और यथार्थवाद को ही संदेह से नहीं देखा जा रहा है, 'राष्ट्र' भी प्रश्नों से घिर गया है। इसके मूल में लोकतंत्र का दंभ भरनेवालों के द्वारा निर्मित वर्चस्व और जारी रखे गए भेदभाव हैं। ऊपर से वैश्वीकरण की नव-उदारवादी बदहजमी है! यह विडंबनापूर्ण है कि एक तरफ तमाम किस्म के केंद्रवाद टूट रहे हैं, दूसरी तरफ वैश्वीकरण से जन्मी नई औपनिवेशिकता फिलहाल चुनौतीविहीन है।

वैश्वीकरण के वर्तमान युग में दुविधा की वैसी ही स्थिति है, जैसी कभी 19वीं सदी के अंग्रेजी राज में थी – आधुनिकता चाहिए या स्वाधीनता? आज पूछा जाता है, विकास चाहिए या न्याय? विखंडता आज वैसी ही है, जैसे पहले थी, बल्कि असहिष्णुता बढ़ी है। दमन और भय भी कम नहीं छाया है। फिर भी आवाजें हैं, भले वे छोटी हों और उनके बीच 'नीचे से राष्ट्रीय जागरण' की उभरती तस्वीरें लक्षित की जा सकती हैं। इसका मुख्य स्वर है, हमें विकास और न्याय दोनों एकसाथ चाहिए।

हिंदी उपन्यास में विभिन्न जगहों से विषय आ रहे हैं, विषय विकेंद्रण हुआ है। इससे रचनात्मकता को ही नए क्षेत्र नहीं मिले हैं, जीवनबोध का भी विस्तार हो रहा है। उपन्यास के विषय ही नहीं, पाठक भी नए-नए स्थानों से आ रहे हैं। यह हिंदी उपन्यास के लिए एक अभूतपूर्व समय है। इधर काशीनाथ सिंह और विनोद कुमार शुक्ल से लेकर मैत्रेयी पुष्पा, संजीव, ओमप्रकाश वाल्मीकि, भगवानदास मोरवाल, अनामिका आदि

तक उपन्यासकारों की कई पीढ़ियाँ हैं, जिनकी कृतियों में न सिर्फ बर्बर सामंती पुनरुत्थान के खिलाफ आवाजें हैं, बल्कि राष्ट्र पर मंडराती नव-औपनिवेशिक छायाओं के चित्र भी हैं। आज के लेखक यथार्थवाद की यांत्रिकता से ही बाहर नहीं निकल आए हैं, आधुनिकता के सर्वसत्तावादी रूपों से ही नहीं टकराते हैं, वे अधबने राष्ट्र के मन में पलती आशाओं, शंकाओं और विद्रुपताओं को भी खुले मन से पढ़ते हैं। उपन्यास अंततः एक मानवीय जगह, कॉमन प्लेस है, जहाँ पाठक आकर थोड़ी देर खुलकर सांस लेता है।

आलोचना की यह किताब आलोचना कम और सहयात्रा ज्यादा है। यह एक बड़ा प्रश्न है कि उपन्यास या आलोचना या कोई साहित्यिक कृति आज क्या दे सकती है, जब बड़े मनोरंजन उद्योगों और मुक्त बाजार व्यवस्था ने रुचियाँ बदल दी हैं। साहित्य कभी बाजार की रुचियों और शोर में बह नहीं सकता, यह रुचियों का रचनात्मक पुनर्निर्माण करता है। निश्चय ही आज कोई चीख, विद्रोह या आंदोलन बाजार के रेंज के बाहर नहीं है। ऐसी गहन चुनौती के बीच हाशिया बोल रहा है तो यह न 'राष्ट्र' को खोना है और न 'मानवीय' को। हाशिया बोल रहा है। हाशिये की आवाजों को अंततः कौन सुनेगा – बाजार या राष्ट्र?